शोध-पत्र

प्रकृति के दार्शनिक संदर्भ

डॉ. सुनीता खुराना*

प्रकृति शब्द प्र उपसर्ग कृ धातु और क्तिन् प्रत्यय के योग से बना है। किसी प्राणी या पदार्थ के मूलभूत गुण या स्वभाव को, जो अधिकांशत: जन्मजात होता है, प्रकृति कहा जाता है। मूलगुण या स्वभाव के अतिरिक्त माया, परमात्मा, पंचमहाभूत, जगत के उपादान कारण रूप मूलतत्व को भी प्रकृति से अभिहित किया जाता है। भारतीय साहित्य में प्रकृति शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। 'श्रीमद्भगवदगीता' में माया तथा स्वभाव के लिए 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में 'प्रजा' के लिए 'मेघदूत में 'सुधहीन मानव' के लिए प्रकृति शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि यह शब्द विविध अर्थों का द्योतक है किन्तु व्यावहारिक रूप से मानवेतर सृष्टि को ही प्रकृति कहते हैं।"साधारण अर्थ में प्रकृति मानव प्रतिपक्ष है। वह संपूर्ण परिवेश जिसमें मानव रहता है, जीता है, भोगता है, संस्कार ग्रहण करता है, प्रकृति है। स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रकृति मानवेतर का वह अंश हो जाती है, जो इन्द्रियगोचर है, जिसे हम देख, सुन और छू सकते हैं। आकाश को छूते पर्वत, कल-कल बहती नदियां, भोर की उजली किरणें, संध्या की नीरवता, समस्त परिवेश को अपने सौंदर्य से ढंकती चांदनी, कुदानें भरते खरगोश, चिड़ियों की चहचहाहट, मयूरों का वसन्त नृत्य-ये सभी प्रकृति के अंतर्गत आते हैं।"

व्यापक अर्थ में "प्रकृति विश्व की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है।"[1] प्रकृति की इस व्याख्या में समस्त विश्व का विस्तार समाहित है। जहाँ समस्त चराचर जगत की रचना प्रकृति द्वारा होती है वहीं प्रकृति का रचनाकार स्वयं ईश्वर है। ईश्वरवादी प्रकृति को ईश्वर का स्वभाव मानते हैं। उनके अनुसार इसका बाह्य रूप ईश्वर की वर्तमान आंतरिक सत्ता का अभिव्यंजक है।

प्रकृति क्या है? क्या यह दृश्यात्मक जगत ही प्रकृति है या इससे परे कोई अन्य सत्ता भी प्रकृति के अंतर्गत आती है- इस विषय में आलोचकों में मतभेद हैं। समय-समय पर मानव ने इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने की चेष्टा की है किन्तु वह पूर्णरूपेण सफल नहीं हो पाया। प्रकृति के विशाल फलक का आधार अस्पष्ट है। यह अत्यंत विचित्र है कि जो प्रकृति धात्री बनकर हमारा पोषण करती है, जिसके साथ हमारा रागात्मक संबंध है, उसी के विषय में हमारा ज्ञान अपूर्ण है। कारण है कि प्रकृति की कोई निर्दिष्ट परिभाषा नहीं बांधी जा सकती है, न ही कुछ शब्दों में उसके अर्थ को समेटा जा सकता है। उसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से की जाती रही है। दार्शनिक दर्शन के, वैज्ञानिक विज्ञान के और साहित्यकार जीवन के परिप्रेक्ष्य में प्रकृति विषयक धारणाएँ प्रस्तुत करता है। मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास की यात्रा में प्रकृति के तीन रूप दिखाई देते हैं। पहला सैद्धांतिक रूप है। चिंतन और मनन के स्तर पर मानव प्रकृति के बाह्य रूप तक ही सीमित नहीं रहा अपितु उसने उसे जीवन से संबद्ध करके देखा। परिणामस्वरूप अनेक दर्शनों का उदय हुआ जिन्होंने अपने-अपने ढंग से प्रकृति की व्याख्या की। व्यावहारिक या उपयोगी रूप का आरंभ तब से हुआ जबसे मानव ने कृषि करना आरंभ हुआ। प्रकृति मानव का पोषण

* 3683, सेक्टर-231, गुड़गाँव, हरियाणा ईमेल: sunitadelhi3010@gmail.com

करती थी किंतु प्रत्यक्ष रूप से उसका यह रूप कृषि से आरंभ हुआ। प्रकृति के सौंदर्यपरक रागात्मक रूप का संबंध काव्य से, विभिन्न कलाओं से जुड़ा हुआ है। साहित्य में प्रकृति-सौंदर्य का प्रश्न उपयोगिता के साथ-साथ जीवन के साथ जुड़ा होता है। जीवन-सापेक्ष होने के कारण प्रकृति से जुड़ दार्शनिक तथ्य भी साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से प्रकृति सूक्ष्म भी है, स्थूल भी; जड़ भी है, चेतन भी। तत्त्व मीमांसा प्रकृति शब्द का प्रयोग दो रूपों के लिए करती है- (क) दृश्य जगत के लिए (ख) इससे परे किसी अन्य सत्ता के लिए। भौतिकवादी दृष्टि उन प्रकृतिवादियों की है जो प्रकृति को ही एकमात्र स्वतंत्र सनातन तत्त्व स्वीकार करते हैं और अध्यात्मवादी दृष्टि जगत का नियमन करने वाली शक्ति को स्वीकार करती है। एकतत्त्व को पूर्णरूपेण प्रधान न मानते हुए दोनों के समन्वय को स्वीकार करते हुए रघुवंश लिखते हैं-"दार्शनिक सीमा में भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व से समन्वित प्रकृति का रूप हमारे लिए अधिक ग्रहणीय है।...वस्तुत: तत्त्ववाद की दृष्टि में जो भौतिक है, वह साधारण अर्थ में प्रकृति का रूप है और जो विज्ञान है, वह भाव माना जाता है।"[2] साधारण मानव भी इन दोनों तत्त्वों को स्वीकार करके चलता है 'वह हरी घास, नदी और वृक्ष-सभी को आकार-प्रकार तथा रंग-रूप में ग्रहण करता है, इनको सत्य मानने के लिए स्वाभाविक रूप से विवश है...वह न तो प्रकृति के रूप को छोड़ पाता है और न भाव पक्ष की उत्सुकता त्याग सकता है। वह प्रकृति में भौतिक के साथ किसी अन्य सत्ता को भी स्वीकार करके चलता है। प्रकृति के रूप और भाव-इन दोनों स्तरों पर ही प्रकृति की सही व्याख्या हो सकती है। एक स्तर को ग्रहण करने व दूसरे को छोड़ दिए जाने पर प्रकृति का अर्थ अपूर्ण होगा और संकुचित दायरे में बंधकर रह जाएगा। यदि रूपमय प्रकृति को लें तो अभिप्राय केवल दृश्य जगत से होगा। अचेतन रूप को प्रमुखता मिलेगी, रूप छूट जाएगा। ये दोनों ही रूप अनिवार्य हैं। भारतीय वैदिक वाङ्मय में इन दोनों रूपों का समन्वय किया गया है-"वस्तुत: प्रकृति के भाव और रूप दोनों को लेकर मानव चल सका है और आत्मवाद के रूप में उपनिषद् चरम विज्ञानवाद तक पहुँचते हैं-वही तू है और मैं ब्रह्म हूँ।" वेदों में परसत्ता का उल्लेख स्थान-स्थान पर हुआ है। पृथ्वी तत्त्व के साथ स्वर्ग की भी कल्पना की गई है। आत्मा और परमात्मा दोनों तत्त्वों को स्वीकारा गया है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में हाब्स और ह्यूम रूपमय प्रकृति अर्थात् भौतिकत्व को स्वीकार करने वाले भौतिकवादी हैं। स्पिनोजा और बार्कले भावमय प्रकृति अर्थात् विज्ञानतत्त्व को स्वीकारने वाले विज्ञानवादी हैं। हेगेल और कांट दोनों के समन्वय को स्वीकार करते हैं। प्लेटो के अनुसार दोनों तत्त्वों के समन्वय से ही प्रकृति का अस्तित्व संभव है। वे दोनों तत्त्वों के समन्वय को स्वीकारते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धांत प्रकृतिवाद प्रकृति को ही सत्ता मानकर चलता है। प्रकृतिवादियों के अनुसार प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता का अस्तित्व नहीं है। ये मानवीय अनुभव से परे परमतत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार प्रकृति की प्रत्येक वस्तु सत्य है। उसमें घटने वाली प्रत्येक घटना यथार्थ है। मानव-जीवन में विकास का जो क्रम आदिकाल से चला आ रहा है, वह प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही हुआ है। आज मानवीय सभ्यता और संस्कृति का जो विकसित रूप हम देखते हैं वह भी प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है। प्रकृतिवाद के अनुसार-"प्राकृतिक नियम से पदार्थ या घटनाओं का संचालन होता रहता है और उनके पीछे (प्राकृतिक नियमों के अतिरिक्त) और कोई प्रयोजन नहीं हैं प्रकृति के ये नियम शाश्वत हैं, उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता, एक प्रकार का कारण समान फल देगा, यह सिद्धांत 'प्राकृतिक कार्य' अथवा समस्त विश्व की घटनाएं यंत्रवत् बिना किसी भावी उद्देश्य की पूर्ति की इच्छा के संचालित होती रहती है।"[3]

जॉर्ज सान्तायना प्रसिद्ध प्रकृतिवादी दार्शनिक थे। इस दृश्यजगत में ही विश्वास प्रकट करते हुए परमतत्व की, ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की। उनके अनुसार आवश्यक नहीं कि धर्म में विश्वास के लिए ईश्वर में विश्वास किया जाए। मानव के सभी अनुभव प्राकृतिक घटनाओं से संबद्ध हैं। सान्तायना का प्रकृतिवाद अरस्तू के भौतिकवाद और प्लेटो के सार-सिद्धांत से प्रभावित हुआ। उन्होंने भौतिक पदार्थ के साथ-साथ दूसरे पदार्थों के अस्तित्व को भी स्वीकारा। उनके अनुसार, "प्रकृति में भौतिक पदार्थ, मानसिक सत्ता, सार एवं सत्य चार सत्ताएं विद्यमान हैं।....मानसिक सत्ता भौतिक पदार्थ पर निर्भर है और भौतिक पदार्थ सभी प्रकार के कार्य करता है।"[4]

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के प्रवर्त्तक कार्ल मार्क्स ने भौतिकतत्त्व को ही परमतत्त्व मानते हुए ईश्वर अथवा ब्रह्म की धारणा को निराधार बताया। उनके अनुसार-प्रकृति का विकास उद्देश्य रहित है। इसकी क्रियाशीलता में किसी भी चेतन सत्ता का निर्देश नहीं है। इसकी क्रियाशीलता मूल रूप से अचेतन है। क्रियाशील भौतिक पदार्थ का स्वतंत्र एवं वस्तुनिष्ठ अस्तित्व है। भौतिकवादियों के विपरीत अध्यात्मवादी मनस् अथवा चैतन्य को प्रधानता देते हुए भौतिक-तत्त्व को निम्न स्थान में रखते हैं। इनके अनुसार "प्रकृति अंतिम सत्ता नहीं है। चैतन्य तत्त्व ही परमतत्त्व है। यही सृष्टि का नियन्ता है-प्रत्यय, मनस अथवा आत्मन एक सार्वभौम अथवा सर्वव्यापी सिद्धांत (Universal Principle) है जो सृष्टि के आरंभ, विकास एवं अंतिम ध्येय का नियंत्रणकर्ता है।"

विश्वविख्यात प्राणितत्ववेत्ता हैकेल की कृति 'रिडल ऑफ दि यूनीवर्स' में जगत की उत्पत्ति व विकास का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। इसके हिंदी अनुवाद 'विश्वप्रपंच' की भूमिका में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक दर्शन और विज्ञान से संबंधित तथ्यों की चर्चा की है। ये तथ्य प्रकृति और उसके विकासचक्र पर प्रकाश डालते हैं। जगत की उत्पत्ति परमाणुओं द्वारा हुई। ये परमाणु नित्य और अक्षर हैं। इन्हीं से विभिन्न पदार्थों की रचना होती है "अणुओं के परस्पर मिलने से अणु और विद्युत-गुणों के परस्पर मिलने से परमाणु बनते हैं...परमाणुओं के मिलने से ही रासायनिक क्रिया होती है।"[5]

सर्ववाद ज्ञान की उच्च अवस्था का द्योतक है। ईश्वर और जगत् को अभिन्न मानने वाले सर्ववाद की पूर्ण व्याख्या यूरोप में स्पिनोजा द्वारा 1700 ई. में की गई। सर्ववाद अथवा ब्रह्मवाद का बीजारोपण प्राचीन भारत में ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व हो चुका था। भारतीय वाङ्मय में 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' को स्वीकार किया गया।

सर्ववाद और हैकेल के अद्वैतवाद में साम्य होते हुए भी सिद्धांत भेद है। ईश्वर और जगत् की अभिन्नता अद्वैतवादी भावना के अनुरूप है किंतु ब्रह्मवाद चेतन समष्टि को ब्रह्म मानता है। हैकेल का परमतत्त्व प्रवृत्तिधर्म युक्त होने पर भी जड़ है, चेतन का उसके साथ नित्य संबंध नहीं। उसके गुणविकास की एक अवस्था का नाम ही चेतना है जिसका अधिष्ठान शरीरियों के अंतःकरण के अतिरिक्त और कहीं नहीं। सांख्य के प्रकृति-पुरुष के द्वैत में पुरुष को निकाल केवल जड़ प्रकृति ही रखे तो हैकेल का अद्वैतमत निकलता है जिसे प्रकृतिवाद ही कह सकते हैं।[6]

भारतीय सांख्यदर्शन में प्रकृति को बहुत महत्त्व दिया गया है। इसे प्रकृति दर्शन भी कहा जा सकता है। इसके अनुसार प्रकृति ही समस्त जगत् का मूल उपादान है। "प्रकर्षेण क्रियते सर्व जगदनया इति प्रकृतिः"। सत्स-रजस-तमस की साम्यावस्था प्रकृति है। इस जगत के दो स्पष्ट तत्त्व हैं-पुरुष और प्रकृति। पुरुष प्रकृति से मूलतः अनासक्त होता है और उसके कार्यव्यापार में बंधा प्रतीत होता है। प्रकृति पुरुष को अपने मायाजाल में बांधकर सृष्टि की रचना करती है। अपने क्रियाकलापों के लिए वह किसी पर आश्रित नहीं होती। वह समस्त स्थूल और सूक्ष्म जगत् की उत्पादिका है। विश्व के आविर्भाव व तिरोधान का कारण यही प्रकृति है।

शैवदर्शन प्रकृति को शक्ति मान कर चलता है। यह शक्ति की वह अवस्था है जो माया व उसके कंचुकों से आवृत्त होने से उत्पन्न होती है।...यह शिव की शांता शक्ति है। शिव को माया के कंचूकों के आबद्ध करके संकुचित करने के साथ-साथ स्वयं भी संकुचित होती है और भेद की भूमि पर उतर आती है। शैवदर्शन के 36 तत्त्वों में प्रकृति भी एक है। "स्वच्छ तथा स्वतंत्र भगवती चिति ही अनन्त विश्व के रूप में प्रस्फुटित होती है। यह कार्य कारण भाव वास्तविक है। क्योंकि यही विश्व की सिद्धि अर्थात् प्रकाश में कारण है।"[7] चिति शक्ति ही अपनी इच्छा से, अपने आधार पर विश्व का उन्मूलन करती है।

वैशेषिक दर्शन में आधुनिक वैज्ञानिक प्रकृति-संबंधी धारणा के बीज छिपे हैं। इस स्थूल जगत् का सबसे छोटा भाग परमाणु है। इसे न तो सूक्ष्मदर्शी से देखा जा सकता है और न ही खण्ड किए जा सकते हैं। ये शाश्वत और अनश्वर है। इन्हीं परमाणुओं की योजना से सृष्टि के विविध पदार्थों की रचना होती है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने परमाणुवाद और प्रकृतिवाद दोनों के समन्वय से जगत् के उपादान कारण का वर्णन किया है। वे प्रकृति और परमाणु दोनों को जगत् का कारण मानते हैं। उनके अनुसार परमाणु प्रकृति की ही अन्य अवस्था का नाम है। ये प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। प्रकृति जगत् का कारण अवश्य है पर प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति सीधे नहीं होती अपितु परमाणुओं के संयोग से स्थूल जगत् की उत्पत्ति होती है। वे लिखते हैं-"अनादि नित्यस्वरूप सत्व, रजस् और तमोगुणों

की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् वर्तमान तत्वायव विद्यमान है उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरंभ है, संयोग-विशेषों से अवस्थांतर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म से स्थूल बनाते विचित्र रूप बनी है। इसी से संसर्ग होने से यह सृष्टि कहलाती है।"[8]

श्रीमदभगवदगीता में प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि कहा गया है। रागद्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक संपूर्ण पदार्थों को प्रकृति से उत्पन्न माना गया है। प्रकृति और पुरुष से परे एक सर्वव्यापक तत्त्व है जिससे यह सृष्टि उत्पन्न होती है। ये दोनों उस ईश्वर की विभूति मात्र हैं। जगत् उससे उत्पन्न होता है और उसी में समा जाता है। ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति जगत् की उत्पत्ति करती है। संपूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा प्रेरित होकर किए जाते हैं तो भी अहंकार से मोहित पुरुष स्वयं को ही कर्त्ता मान लेता है। प्रकृति से ही सभी जीवों की उत्पत्ति होती है। इसके दो रूप हैं-अपरा तथा परा। अपरा अर्थात् जड़ प्रकृति और परा अर्थात् चेतन प्रकृति। आत्मा चेतन स्वरूप का द्योतक है जिससे यह जगत् धारण किया जाता है। अपरा प्रकृति को क्षेत्र तथा क्षरपुरुष व पराप्रकृति को क्षेत्रज्ञ तथ अक्षरपुरुष की संज्ञा दी गई है। अपरा आठ प्रकार के भेदों वाली है तथा उसका विकास चौबीस प्रकार के तत्त्वों में हुआ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, मन, बुद्धि, अहंकार ये आठ प्रकार की अपरा प्रकृति है। पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमय माया, दस इंद्रियाँ, पांच इन्द्रियों के विषय (रस, रूप, स्पर्श, गंध आदि) तथा मन-ये चौबीस तत्त्व अपराप्रकृति का क्षेत्र हैं।

शुद्धाद्वैत के प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य ने जगत् या प्रकृति के स्वरूप को वास्तविक माना है माया-कल्पित नहीं। जगत् का आविर्भाव व तिरोभाव ईश्वर की लीला के विलासमात्र है। उन्होंने ब्रह्म के तीन रूप बताए हैं-संत्, चित् और आनंद। सत् अंग से भौतिक पदार्थों की अर्थात् प्रकृति की उत्पत्ति होती है। चित् से जीव का आविर्भाव होता है। विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुजाचार्य चित् और अचित दोनों को ब्रह्म से उत्पन्न मानते हैं। चित् जीव का और अचित प्रकृति का द्योतक है। सृष्टि-रचना के समय ये दोनों ब्रह्म से विलग हो जाते हैं किन्तु अपना अस्तित्त्व नहीं खोते। रामानुजाचार्य 'श्वेताश्वतर उपनिषद' में वर्णित प्रकृति के स्वरूप को स्वीकार करते हैं-"प्रकृति एक है, अनादि है-वह स्वयं सृष्टि नहीं करती प्रत्युत ईश्वर की अध्यक्षता में सृष्टि का कार्य करती है। ईश्वर की इच्छा से सूक्ष्म प्रकृति तीन प्रकार के तत्त्वों-तेज, जल तथा पृथ्वी में विभाजित होती है जिनमें क्रमशः सत्व, रज् तथा तमोगुण पाए जाते हैं।"[9] वेदाती प्रकृति की अलग सत्ता न स्वीकार उसे पुरुष की आश्रित व उसकी शक्ति मानते हैं। वे उसे माया कहते हैं। अद्वैतवेदांत के प्रस्थापक शंकराचार्य प्रकृति को जड़ मानते हुए ब्रह्म को परमसत्य मानते हैं। उनके अनुसार रस्सी में सर्प के समान ब्रह्म जगत् और जीव की सत्ता का आभास होने लगता है। ज्ञान उदित होने पर भ्रम मिट जाता है व आत्मसाक्षात्कार होता है।

प्रकृति का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। वे सभी पदार्थ जिनकी उत्पत्ति पंचतत्त्वों से हुई है, प्रकृति से अभिहित किए जाते हैं। भारतीय विचारधारा प्रकृति और ब्रह्म के प्रति अद्वैत की भावना से अधिक प्रभावित है। उसके लिए प्रकृति ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। वह प्रकृति के साथ रागात्मक संबंध लेकर चलती है। उसके उपकरणों में देवत्व की प्रतिष्ठा करती है। मानवेतर सृष्टि के वे उपकरण जिन्हें रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गंध के अंतर्गत अनुभव किया जा सके, प्रकृति के अंतर्गत आते हैं। उषा, संध्या, सूर्य, तारे, चांद, नदियाँ, पशुपक्षी, सागर, लताएं आदि सभी उपादान इसमें आते हैं। इस अर्थ में प्रकृति साधारण और व्यापक दोनों रूपों के साथ समाहित हो जाती है।

संदर्भ सूची

1. रघुवंश, 'प्रकृति और काव्य' (संस्कृत खण्ड), पृ. 3
2. रघुवंश, 'प्रकृति और हिंदी काव्य', पृ. 04, 09
3. ब्रजगोपाल तिवारी, 'पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग', पृ. 88
4. डॉ. अजितकुमार सिन्हा, 'समकालीन दर्शन' से उद्धृत, पृ. 114-115
5. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'रिडल ऑफ दि यूनीवर्स' के हिंदी अनुवाद विश्व-प्रपंच की भूमिका, पृ. 4-5
6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : विश्वप्रपंच, भूमिका, पृ. 4
7. विशालप्रसाद त्रिपाठी, 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्', पृ. 73
8. दयानंद सरस्वती, 'सत्यार्थ प्रकाश (अष्टमसमुल्लासः),' पृ. 223
9. बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय दर्शन', पृ. 398